RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित धार्मिक विचारों का विवेचन

राजीव कुमार शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

कौटिल्य के धार्मिक दृष्टिकोण को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि प्राचीन भारत में धर्म को केवल व्यक्तिगत आस्था के रूप में नहीं देखा जाता था, बल्कि इसे समाज और राज्य की नींव माना जाता था। स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि ''यदि भारत से धर्म का तत्व निकाल दिया जाए, तो यह राष्ट्र मानवीयता और चेतना दोनों में मृतप्राय हो जाएगा।'' उनके अनुसार मनुष्य और जानवर में केवल धर्म ही अंतर करता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन जैसी आवश्यकताएँ दोनों में समान हैं, लेकिन धर्म ही मनुष्य को विशेष बनाता है। धर्म के बिना मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं रह जाता।

मनु ने धर्म के दस प्रमुख लक्षण बताए हैं: धृति, क्षमा, मन को वश में करना, चोरी न करना, इन्द्रियों को नियंत्रित करना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य, पवित्रता और अक्रोध। धर्म शब्द संस्कृत के धृ धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ 'धारण करना' होता है। इसका तात्पर्य है कि धर्म वह तत्व है जो किसी वस्तु या जीवन को पोषित और स्थिर रखता है। भारत में धर्म का व्यापक अर्थ है और इसके दो पक्ष माने गए हैं – लौकिक और अध्यात्मिक। इसका उद्देश्य केवल ईश्वर की भक्ति नहीं, बल्कि मानव समाज में प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सद्भाव का संवर्धन करना भी है। भारत के दार्शनिक सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, धर्म केवल सिद्धांतों का समूह नहीं है, बल्कि यह जीवन और अनुभव का रूप है। इसे व्यवहारिक रूप में अपनाना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इसे सैद्धांतिक रूप में समझना।

प्राचीन भारत में धर्म को राज्य का प्रमुख आधार माना जाता था। सभी प्राचीन आचार्यों का मानना था कि राजा को धर्मपरायण होना चाहिए और धर्म तथा नीति को आधार मानकर शासन करना चाहिए। राज्य का मुख्य कर्तव्य धर्म की रक्षा करना और सच्चरित्रता तथा धर्मनिष्ठता को प्रोत्साहित करना था।

यूनानी दार्शनिकों ने भी राज्य को एक नैतिक संस्था के रूप में देखा। अरस्तू के अनुसार, राज्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पन्न हुआ, किंतु यह श्रेष्ठतम जीवन के लिए स्थायी रूप से अस्तित्व में रहता है। प्लेटो के विचार में भी राज्य की स्थापना का मुख्य उद्देश्य समाज में श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है। मध्यकालीन यूरोप में राज्य को चर्च की अधीनस्थ संस्था माना जाता था। उस समय राजनीति और धर्म इतना घनिष्ठ रूप से जुड़े थे कि लौकिक सत्ता केवल चर्च की पुलिस के रूप में कार्य करती थी।

प्राचीन भारतीय राज्यों के संदर्भ में विद्वानों का मत है कि इसे धर्मतंत्रवादी राज्य कहा जा सकता है। धर्मसूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि राजा को ब्राह्मणों को नियमित करने का अधिकार नहीं था। यदि कोई

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

राजा किसी योग्य ब्राह्मण को पुरोहित के रूप में नियुक्त नहीं करता, तो उसकी हवि ईश्वर स्वीकार नहीं करता।

ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि राजा पुरोहितों और ब्राह्मणों को सम्मान देता है, तो प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करेगी और शत्रुओं पर उसकी विजय सुनिश्चित होगी। ऐसे कई उद्धरण प्राचीन भारतीय ग्रंथों में मिलते हैं। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में धर्म और राज्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। मौर्यकाल में धर्म के नियमों को लागू करने के लिए धर्ममहामात्र और गुप्त काल में विनयस्थितिस्थापक जैसे पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे।

यह सही है कि प्राचीन भारत में धर्म का राज्य पर गहरा प्रभाव था, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन राज्य पूरी तरह धर्मतंत्रवादी था। धर्मशास्त्रों और अन्य प्राचीन ग्रंथों में कई ऐसे उद्धरण हैं जो यह दर्शाते हैं कि राज्य मामलों में राजा की सर्वोच्चता थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण पर राजा का नियंत्रण रहता था - 'यदा वै राजा कामयते, अथ ब्राह्मणं जिनाति।' ऐतरेय ब्राह्मण में भी उल्लेख है कि राजा दोषी ब्राह्मण को निष्कासित कर सकता था। वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जो राजा की श्रेष्ठता को दर्शाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में धर्म की प्रधानता स्वीकार की जाती थी, लेकिन इसे यूरोपीय मध्ययुगीन धर्मतंत्रवादी राज्यों की तरह नहीं माना जा सकता। वैदिक काल में भारतीय राज्य ब्राह्मणों के प्रभुत्व में नहीं था।

यद्यपि प्राचीन भारतीय राज्य धर्मतंत्रवादी नहीं था, इसके क्रियाकलापों पर धर्म का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लगभग सभी प्रमुख आचार्यों ने माना है कि धर्मविहीन राजा विनाश की ओर अग्रसर होता है। उन्होंने राजा के कर्तव्यों को 'राजधर्म' कहा। धर्मशास्त्रों में स्पष्ट है कि धर्म का पालन न करने वाले राजा को ईश्वर द्वारा दण्डित किया जाएगा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रजा को राजा के निरंकुश आचरण का विरोध करने का अधिकार नहीं था। आधुनिक युग में भी महात्मा गांधी ने धर्मोन्मुख राज्य पर बल दिया और कहा कि धर्मविहीन राजनीति विनाश की ओर ले जाती है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में धर्म पर कोई स्वतंत्र अध्याय नहीं बनाया है, लेकिन उसके धार्मिक विचार ग्रंथ में विभिन्न स्थानों पर दिखाई देते हैं। उन्होंने धर्म को राज्य और समाज के संरक्षण का महत्वपूर्ण साधन माना। धर्म को कुछ समीक्षकों ने पूंजीवादी दृष्टि से देखा है, लेकिन वास्तव में कौटिल्य ने इसे नैतिक अनुशासन और सामाजिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने धर्म को तीन रूपों में प्रयोग किया है - सत्य पर आधारित नैतिक कानून, नागरिक कानून और दण्ड के माध्यम से धर्म की रक्षा। उन्होंने धर्म को समाज का कर्तव्य मानते हुए वर्ण और आश्रम अनुसार अलग-अलग धर्म बताए। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, यज्ञ और दान; क्षत्रिय का धर्म शस्त्रबल से जीविकोपार्जन और प्राणियों की रक्षा; वैश्य का धर्म कृषि, पशुपालन और व्यापार; और शूद्र का धर्म अन्य वर्णों की सेवा करना है।

कौटिल्य ने चार आश्रम - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास - के धर्म भी स्पष्ट किए। उनका मानना था कि राजा का मुख्य कर्तव्य धर्मनिष्ठ होना और प्रजा को अपने धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखना है। धर्म का पालन करने वाली प्रजा सुखी रहती है और राज्य में संतुलन बना रहता है।

कौटिल्य की स्वधर्म अवधारणा की तुलना प्लेटो के न्याय सिद्धांत से की जा सकती है। प्लेटो और कौटिल्य दोनों ने समाज में श्रम विभाजन और कार्यों के विशेषीकरण को महत्व दिया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि कौटिल्य ने स्वधर्म के सिद्धांत पर बल इस कारण दिया कि बौद्ध धर्म द्वारा प्रचारित वैराग्य जीवन के सिद्धांत से तत्कालीन हिन्दू समाज को संभावित खतरों से बचाया जा सके। कई समीक्षकों के अनुसार, कौटिल्य ने धर्म का अर्थ केवल अर्थ और काम तक सीमित नहीं रखा। उनके दृष्टिकोण में धर्म और अर्थ गहरे रूप से जुड़े हैं। अर्थ के माध्यम से ही व्यक्तियों में समानता और सक्रियता का भाव उत्पन्न किया जा सकता है, और राष्ट्रधर्म के निर्माण में अर्थ महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कौटिल्य के चिन्तन में मध्यकालीन यूरोपीय चर्च की प्राधानता का कोई स्थान नहीं है।

अर्थशास्त्र में धर्म और नैतिकता के बीच गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। कौटिल्य ने धर्म को सत्य पर आधारित नैतिक कानून के रूप में प्रयोग किया है। उन्होंने व्यक्ति के आचरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया। सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों का उल्लेख करने के बाद उन्होंने कहा कि व्यक्ति को हिंसा से दूर, सत्य बोलने वाला, पवित्र, ईर्ष्याविहीन, दयालु और क्षमाशील होना चाहिए।

राज्य के विभिन्न अंगों के बीच विवादों के निबटारे में कौटिल्य ने नैतिकता को प्राथमिकता दी। उन्होंने चार उपाय बताए - धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा। धर्म सच्चाई में, व्यवहार साक्षियों में, चरित्र समाज में और राजाज्ञा शासन में स्थित रहती है। यदि धर्म, चरित्र और व्यवहार में टकराव हो, तो सदैव धर्म को मान्यता दी जानी चाहिए। राजा का निजी धर्म है कि वह धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करे। ऐसा करने वाला राजा सुखी होता है और उसे लोक और परलोक में सफलता प्राप्त होती है।

कौटिल्य के अनुसार धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा विवादों के निर्णायक साधन हैं और इन्हें राष्ट्र के चार स्तंभ माना जा सकता है। इनमें भी धर्म सर्वोपरि है, इसके बाद व्यवहार, फिर चरित्र और अंत में राजाज्ञा।

कौटिल्य ने धर्म को केवल विवादों के समाधान का साधन ही नहीं माना, बल्कि इसे नागरिक और सामाजिक क्रियाकलापों को संचालित करने वाला कानून भी माना। उन्होंने अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण का नाम ही धर्मस्थीय रखा। इसमें विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, गृह निर्माण, ऋण, दासता, क्रय-विक्रय जैसे नागरिक कानूनों का विवरण है। इन नियमों और कानूनों को धर्म का रूप दिया गया और इनकी व्याख्या करने वाले न्यायाधीशों को धर्मस्थ कहा गया।

धर्म और राजनीति :

कौटिल्य ने राज्य के संदर्भ में धर्म को अत्यंत महत्वपूर्ण माना और कहा कि धर्म को राज्य से अलग नहीं किया जा सकता। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों और राजशास्त्रों में धर्म को राज्य का मूल स्तम्भ माना गया है। अधिकांश प्राचीन आचार्यों के अनुसार धर्मपरायण राजा ही सुखी और सफल हो सकता है। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने भी कहा कि धर्मविहीन राजनीति विनाश की ओर ले जाती है।

प्राचीन भारत में यह विश्वास था कि संसार केवल अणुओं का समूह नहीं है, बल्कि धर्म की सिद्धि और मनुष्य की मुक्ति इसका मुख्य उद्देश्य हैं। सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित चिरंतन व्यवस्था मानी जाती थी। धर्म और समाज इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े थे कि अराजकता या राज्य विहीनता की कल्पना

असंभव थी। इसलिए समाज का अनुरक्षण और धर्म का पालन राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

कौटिल्य ने स्वीकार किया कि राजत्व और धर्म का गहरा सम्बन्ध है। राजा को अपने धर्म का पालन करते हुए प्रजा के साथ धर्म और न्याय के आधार पर व्यवहार करना चाहिए। इसी कारण राजा को धर्म प्रवर्तक कहा गया। राजा का धर्मपालक होना, उसकी इन्द्रियों पर नियंत्रण और समाज की व्यवस्था बनाए रखना धर्म के पालन पर निर्भर है। कौटिल्य के अनुसार किसी राष्ट्र का संतुलित विकास केवल अर्थ, काम और धर्म के सही सामंजस्य से संभव है, जबकि अनर्थ और अधर्म विनाश और दु:ख की ओर ले जाते हैं।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्पष्ट कहा है कि राजा वेदों द्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी होता है। उसे यह सुनिश्चित करना चाहिए कि प्रत्येक वर्ण अपने स्वधर्म का पालन करे। जो प्रजा वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और वेदों द्वारा बतलाए मार्ग पर चलती है, वह सदा सुखी रहती है और उसका नाश नहीं होता।

राजा का धर्म पालन करवाना राजनीतिक उपयुक्तता का भी प्रतीक है। धर्म पर आधारित राज्य ही स्थायी और सुदृढ़ होता है। कौटिल्य ने स्वामी (राजा) को समाज और राज्य का केन्द्र बिंदु माना। उसके लिए यह कर्तव्य है कि न केवल अपने राज्य में बल्कि शासन किए हुए क्षेत्र में भी धर्म का पालन सुनिश्चित करे। यही कारण है कि उसे धर्मपालक कहा गया। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।

कौटिल्य ने धर्म और राजनीति के सम्बन्ध को केवल सैद्धांतिक रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न स्तरों पर लागू किया। धर्म और राजनीति का प्रथम क्षेत्र राजा का आचरण है। राजा का सच्चरित्र और धर्मपरायण होना आवश्यक है। उसे पुरोहितों और आचार्यों के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

राजा को नगर और राज्य के देवी-देवताओं को यथोचित सम्मान देना और उनका पूजन करवाना भी अनिवार्य है। राजभवन, दुर्ग और कोष्ठागार में देवी-देवताओं की उचित स्थापना करनी चाहिए। राजधानी के उत्तरी भाग में नगर देवता, राजकुल देवता और ब्राह्मणों का निवास होना चाहिए। नगर के बीच में दुर्गा, विष्णु, जयन्त, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनी कुमार, लक्ष्मी आदि देवताओं की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक दिशा के मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठाता देवता की स्थापना होनी चाहिए - उत्तर में ब्रह्मा, पूर्व में इन्द्र, दक्षिण में यम और पश्चिम में सेनापति। कौटिल्य ने राजकाज में पूजन और मंत्रोच्चारण का विधान भी किया।

कौटिल्य ने राजा को धर्मनिष्ठ बनकर प्रजा के कल्याण के लिए शासन करने का निर्देश दिया। उनके अनुसार राजा का सुख प्रजा के सुख में निहित है और प्रजा के हित में ही राजा का वास्तविक हित है। प्रजा को सुखी रखने वाला राजा स्वर्ग का अधिकारी होता है, जबकि प्रजा को दु:खी रखने वाला नरक का अधिकारी बनता है।

कौटिल्य ने विजिगीषु राजा को यह सलाह दी कि किसी राज्य या भूभाग पर अधिकार करने के बाद वहाँ के निवासियों को अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता दे। साथ ही, राजा को वहाँ के राष्ट्रदेवताओं,

समाजोत्सवों और धार्मिक स्थलों के प्रति अपनी भक्ति दिखानी चाहिए और प्रजा की भलाई धर्म, कर्म, दान, कर माफी और सम्मान के माध्यम से करनी चाहिए।

विजित राज्य में राजा को धर्मयुक्त आचार-व्यवहारों को प्रोत्साहित करना चाहिए और अधर्म को पनपने से रोकना चाहिए। विजिगीषु राजा स्वयं अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हुआ प्रजा को भी उनके धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित करे। इस प्रकार, सारी पृथ्वी का साम्राज्य प्राप्त करने वाला राजा अपने राज्य का धर्मपूर्वक संचालन कर सकता है। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से कहा कि जिस राज्य में धर्म का पालन नहीं होता, वह विनाश की ओर अग्रसर होता है।

कौटिल्य ने धर्म को कानून के रूप में भी देखा। अर्थशास्त्र का तीसरा अधिकरण 'धर्मस्थीय' कहलाता है। इसमें विवाह, उत्तराधिकार, वस्तु क्रय-विक्रय, गाँवों के बन्दोबस्त, ऋण, धरोहर, दासता, मजदूरी, साहस और दण्ड जैसे विषयों के नियम बनाए गए हैं। विधि सम्मत विवाह को धर्म विवाह कहा गया। इन नियमों का पालन करवाना राजा का प्रमुख दायित्व है, और उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड के प्रावधान भी निर्धारित किए गए हैं।

कौटिल्य ने राज्य में उत्पन्न विवादों के निबटारे के लिए धर्म को एक प्रमुख आधार माना है। उनके अनुसार धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा कानून के चार आधार हैं, जिन्हें उन्होंने चतुष्पाद कहा है। कौटिल्य से पूर्व आचार्यों ने कानून के स्रोत के रूप में श्रुति, स्मृति, न्याय और सदाचार को स्वीकार किया था और राजाज्ञा को स्पष्ट मान्यता नहीं दी थी। किंतु नारद स्मृति में राजाज्ञा को कानून का स्रोत मानने के संकेत मिलते हैं। कौटिल्य ने राजाज्ञा को स्पष्ट रूप से कानून का आधार स्वीकार किया और राजा द्वारा किए गए न्याय को धर्मन्यास कहा। कुछ विद्वानों के अनुसार ये चार तत्व कानून के स्रोत न होकर विवादों के निपटारे के आधार थे।

अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण में कौटिल्य ने दैवी आपदाओं का वर्णन किया है। उनके अनुसार अग्नि, जल, रोग, दुर्भिक्ष, चूहे, व्याघ्र, सर्प और राक्षस आठ महाविपत्तियाँ हैं, जिनसे प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। इनसे बचाव के लिए उन्होंने अनेक धार्मिक अनुष्ठानों और पूजाओं का विधान किया है, जैसे अग्नि से रक्षा के लिए हवन, जल से रक्षा के लिए नदियों की पूजा, रोगों से बचाव के लिए ग्राम देवताओं की पूजा तथा दुर्भिक्ष और अन्य संकटों से बचने के लिए विभिन्न देवताओं की आराधना। कौटिल्य ने तांत्रिकों, सिद्धों, तपस्वियों और अथर्ववेद के ज्ञाताओं को सम्मान देने तथा धार्मिक अनुष्ठानों को प्रोत्साहित करने का भी निर्देश दिया है। धार्मिक पूजाओं और उत्सवों के लिए कर में छूट और विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई।

इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य की राज्य नीति धार्मिक तत्वों से प्रभावित थी। उन्होंने धर्म और राजनीति के बीच घनिष्ठ संबंध को स्वीकार किया और राज्य की उन्नति का आधार धर्म को माना। धार्मिक नियमों के पालन से राज्य समृद्ध होता है और प्रजा सुखी जीवन व्यतीत करती है।

फिर भी कौटिल्य ने राजनीति पर धर्म की पूर्ण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। मध्ययुगीन यूरोप में जहाँ राजनीति पर चर्च की प्रधानता मानी गई, वहीं कौटिल्य ने धर्म को राज्य से ऊपर नहीं रखा। उनके अनुसार धर्म राज्य के उन्नयन का साधन है, उद्देश्य नहीं। धर्म, अर्थ और काम - तीनों का समान महत्व है।

कौटिल्य का मत है कि धर्म का अस्तित्व राज्य के संदर्भ में ही है; यदि राज्य नहीं रहेगा तो धर्म भी सुरक्षित नहीं रह सकेगा। वर्णाश्रम धर्म पर उनका बल सामाजिक व्यवस्था को टूटने और अव्यवस्था से बचाने के उद्देश्य से था।

प्राचीन भारतीय आचार्यों में कौटिल्य संभवतः एकमात्र ऐसे विचारक हैं जिन्होंने राजाज्ञा को भी कानून के स्रोत के रूप में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उनसे पूर्व अधिकांश आचार्य राज्य संचालन में वैदिक धर्म को सर्वोच्च मानते थे। कौटिल्य का मत इससे भिन्न है। उन्होंने धर्म और राजाज्ञा में टकराव की स्थिति में राजाज्ञा को प्राथमिकता दी और विवादों के निर्णय के लिए धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा—इन चार आधारों को स्वीकार किया। अर्थशास्त्र में इनकी प्राथमिकता भी निर्धारित है। जहाँ व्यवहार या चरित्र का धर्मशास्त्र से विरोध हो, वहाँ धर्मशास्त्र को प्रमाण माना जाता है, किंतु यदि धर्मशास्त्र और राजा के धर्मानुकूल शासन में विरोध उत्पन्न हो, तो राजाज्ञा को ही अंतिम प्रमाण माना जाना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य के अनुसार राजा का आदेश धर्मशास्त्र से भी श्रेष्ठ है और राजनीति सदैव धर्म से बँधी हुई नहीं होती।

अर्थशास्त्र में राजा को धर्मप्रवर्तक कहा गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि राजा ही धर्म और न्याय का वास्तविक आधार है। राजा के बिना धर्म निरर्थक हो जाता है। कौटिल्य के अनुसार वर्णाश्रम एक राजनीतिक अवधारणा है, जो राज्य की संगठनात्मक संरचना से जुड़ी हुई है। उन्होंने उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति में राजा के प्रति निष्ठा को अनिवार्य माना और उनकी योग्यता तथा विश्वसनीयता की जाँच के लिए धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा जैसी विधियों का उल्लेख किया है। इन परीक्षणों का उद्देश्य यह देखना था कि अधिकारी राजा के प्रति पूर्णतः समर्पित है या नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि राज्य के अधिकारी की निष्ठा धर्म के प्रति नहीं, बल्कि राजा के प्रति होनी चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार धार्मिक संस्थाएँ भी राज्य के नियंत्रण में रहती हैं। वर्णाश्रम धर्म के पालन की जिम्मेदारी राजा को सौंपी गई है, न कि ब्राह्मणों को। पुरोहित की नियुक्ति और अपदस्थ करने का अधिकार भी राजा को है। मंदिरों और देवालयों की देखरेख के लिए देवताध्यक्ष नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता है, जो मंदिरों की आय को राज्य के उपयोग में लाता है। इस प्रकार कौटिल्य के चिंतन में धर्म और राजनीति का संबंध स्पष्ट रूप से राज्य-प्रधान है। उनकी दृष्टि में प्रजा और राज्यकर्मियों की सर्वोच्च निष्ठा राजा के प्रति होनी चाहिए, न कि धर्मशास्त्रों के प्रति।

अर्थशास्त्र में धर्म संबंधी सभी संदर्भों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का राज्य धर्म का सम्मान तभी तक करता है, जब तक वह राज्य के मूल उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होता है। जहाँ धर्म राज्य के हितों में बाधक बनता है, वहाँ कौटिल्य उसे अलग रखने में संकोच नहीं करता। उसने धर्मशास्त्रों की अपेक्षा लौकिक कानूनों को अधिक प्राथमिकता दी और धर्म तथा धार्मिक संस्थाओं को राजसत्ता के अधीन माना। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने राजनीति के लिए धर्म का पूर्णतः परित्याग किया, बल्कि राजा से यह अपेक्षा की कि वह विवेक, न्याय और धर्म से प्रेरित होकर शासन करे, न कि स्वेच्छाचार से।

इस संदर्भ में कौटिल्य की तुलना प्लेटो से की जा सकती है, क्योंकि दोनों ने विवेक को शासन का मूल आधार माना है। प्रो. कृष्णराव के अनुसार कौटिल्य का चिंतन ईश्वरकेंद्रित न होकर यथार्थ केंद्रित है, जिससे उसके लौकिक और तर्कप्रधान दृष्टिकोण का संकेत मिलता है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि

कौटिल्य ने धर्म और राजनीति के घनिष्ठ संबंध को स्वीकार करते हुए भी लौकिकवाद को प्राथमिकता दी। उसकी दृष्टि में धर्म साध्य नहीं, बल्कि राष्ट्र की उन्नति का साधन था। यद्यपि वह अपने राज्य को धर्म से पूर्णत: मुक्त नहीं कर सका, फिर भी भारतीय लौकिक राजनीतिक चिंतन पर उसका प्रभाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण और दूरगामी रहा है।

नैतिकता और राजनीति :

सामान्यत: यह माना जाता है कि कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में नैतिकता को विशेष स्थान प्राप्त नहीं है। अनेक आलोचकों का मत है कि कौटिल्य ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधनों को अपनाने का समर्थन किया है और इस दृष्टि से वह मैकियावेली के समान प्रतीत होते हैं। उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि राजनीति सदैव नैतिकता पर आधारित हो।

कौटिल्य के राजनीतिक विचारों में धर्म और नैतिकता की स्थिति पर विचार करते हुए यू0 एन0 घोषाल ने कहा है कि लोकहित के नाम पर उसके द्वारा सुझाए गए अनेक उपाय नैतिक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इससे यह संकेत मिलता है कि उसने राजनीति में नैतिकता की अपेक्षा व्यावहारिकता को अधिक महत्व दिया। इसी प्रकार विण्टरनीत्ज का मत है कि कौटिल्य ने राजनीति को नैतिकता से पृथक कर दिया तथा राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए छ्ल-प्रपंच जैसे उपायों की भी अनुशंसा की। डॉ0 बी0 पी0 वर्मा के अनुसार कौटिल्य और हॉब्स के विचारों में समानता है, क्योंकि दोनों ने राज्य व्यवस्था के संरक्षण के लिए बल प्रयोग को आवश्यक माना है।

कौटिल्य के राजनीतिक चिंतन में नैतिकता की उपेक्षा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उसने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनैतिक साधनों को भी स्वीकार किया है। अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ लक्ष्य प्राप्ति के लिए छ्ल, कपट और हिंसा को उचित ठहराया गया है। संदेह और अविश्वास उसकी प्रशासनिक नीति का मूल तत्व है। वह केवल राजकर्मचारियों ही नहीं, बल्कि संपूर्ण प्रजा को भी संदेह की दृष्टि से देखता है।

कौटिल्य ने राज्य के भीतर और बाहर गुप्तचर व्यवस्था को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। उसने राजा को शत्रुओं के साथ-साथ अपने अमात्यों, पुरोहितों, प्रजाजनों, यहाँ तक कि रानियों और राजकुमारों पर भी गुप्तचर नियुक्त करने की सलाह दी है। गुप्तचरों को साधु, संन्यासी, वैद्य, व्यापारी, कारीगर आदि अनेक रूप धारण कर गोपनीय सूचनाएँ एकत्र करने का निर्देश दिया गया है।

राज्य की सुरक्षा के नाम पर कौटिल्य ने गुप्तचरों को आगजनी, हत्या, विषप्रयोग और आपसी शत्रुता भड़काने जैसे अनैतिक उपाय अपनाने की भी अनुमति दी है। इन उपायों का उद्देश्य दुष्ट तत्वों का विनाश और राज्य व्यवस्था की रक्षा करना था। इस प्रकार कौटिल्य का राजनीतिक चिंतन नैतिकता से अधिक व्यावहारिकता और राज्यहित को प्राथमिकता देता है।

कौटिल्य ने राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वध, विषप्रयोग, छ्ल-प्रपंच और अंधविश्वास के उपयोग तक का समर्थन किया है। अर्थशास्त्र में शत्रुओं, कर्मचारियों और प्रजाजनों के दमन के लिए अनैतिक उपायों, गुप्त हत्याओं, विषकन्या, मंत्र-औषधि तथा भय-प्रचार जैसे साधनों का उल्लेख मिलता है। राजकोष की वृद्धि के लिए भी उसने धार्मिक-नैतिक भावनाओं को बाधक मानते हुए छ्ल और कपट को स्वीकार

किया है।

इन तथ्यों के आधार पर कई विद्वान कौटिल्य को राजनीति से नैतिकता को पृथक करने वाला मानते हैं। तथापि यह भी सत्य है कि अर्थशास्त्र में अनेक स्थलों पर नैतिक मूल्यों और सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण पर बल दिया गया है। इस कारण यह कहना अधिक उपयुक्त है कि कौटिल्य ने नैतिकता को पूर्णत: त्यागा नहीं, बल्कि राज्यहित के अधीन रखकर एक व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया है।

कौटिल्य के अनुसार युद्ध में विजय अपने आप में अंतिम उद्देश्य नहीं है, बल्कि विजय के बाद नैतिक दायित्वों का पालन अनिवार्य है। अर्थशास्त्र के अनेक प्रावधान यह सिद्ध करते हैं कि कौटिल्य ने राजनीति में नैतिक मान्यताओं को पूर्णत: अस्वीकार नहीं किया है। उसने राजा के नैतिक गुणों पर विशेष बल दिया है और उसे चरित्रवान, सत्यवादी, विनयी, विवेकी, धर्मात्मा तथा विद्वानों के सान्निध्य में रहने वाला बताया है। राजा को काम, क्रोध आदि छह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की शिक्षा दी गई है।

राजकर्मचारियों और गुप्तचरों के लिए भी ईमानदारी, सत्यनिष्ठा और सच्चरित्र होना आवश्यक माना गया है। यद्यपि कौटिल्य ने संकट की स्थिति में राजकोष के लिए कठोर और कभी-कभी अनैतिक उपायों का समर्थन किया है, फिर भी उसने धर्मात्मा प्रजा पर अन्यायपूर्ण कर न लगाने की स्पष्ट चेतावनी दी है। उसके अनुसार कोष का उपयोग जनहित के लिए होना चाहिए, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं। इस प्रकार कौटिल्य का नैतिक चिंतन राजनीति से पृथक न होकर राज्यहित से नियंत्रित और संतुलित रूप में जुड़ा हुआ दिखाई देता है।

कौटिल्य ने न्यायिक कार्यों में नैतिक आधारों के पालन पर बल दिया है। विवादों के निबटारे के लिए उसने धर्म, सत्य और न्याय को प्रमुख माना है तथा केवल राजाज्ञा को ही पर्याप्त नहीं समझा। उसने विवाद समाधान की एक निश्चित और व्यवस्थित प्रक्रिया अपनाने का निर्देश दिया है। विदेशी नीति के संदर्भ में भी कौटिल्य ने नैतिकता को पूर्णत: अस्वीकार नहीं किया है। उसने कूट युद्ध और धर्म युद्ध का भेद किया है—जहाँ कूट युद्ध में कठोर और अनैतिक उपायों की अनुमति दी गई है, वहीं धर्म युद्ध में नैतिक मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया गया है। युद्धभूमि में घायल, भयभीत या भागते सैनिकों की हत्या को उसने अनुचित बताया है।

कौटिल्य केवल 'धर्म-विजयी' शासक को श्रेष्ठ मानता है और लोभ या असुर-विजयी राजाओं का समर्थन नहीं करता। विजित प्रदेशों में उसने धर्म और न्याय के अनुसार शासन करने का निर्देश दिया है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का राज्य पूरी तरह अनैतिक नहीं था। यद्यपि उसने राज्य की शक्ति और समृद्धि को प्राथमिकता दी, फिर भी सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता हेतु नैतिकता और कर्तव्यनिष्ठा को आवश्यक माना।

अत: कौटिल्य को न तो पूर्ण नैतिकतावादी कहा जा सकता है और न ही पूर्ण अनैतिकतावादी। उसका लक्ष्य एक सुदृढ़ राज्य और सुव्यवस्थित समाज की स्थापना था। वह उसी सीमा तक नैतिकता को स्वीकार करता है जहाँ तक वह राज्य के हित और स्थायित्व में सहायक सिद्ध होती है। इस दृष्टि से कौटिल्य को विशुद्ध रूप से व्यावहारिक अथवा निर्नैतिक यथार्थवादी कहा जा सकता है।

निष्कर्षत: कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन में धर्म, नैतिकता और राजनीति का सम्बन्ध व्यावहारिक

तथा यथार्थवादी रूप में प्रस्तुत हुआ है। उसने धर्म और नैतिकता को राज्य के लिए साध्य नहीं, बल्कि साधन के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ धर्म, नैतिकता और न्याय राज्य की शक्ति, स्थिरता और सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण में सहायक होते हैं, वहाँ वह उनके पालन का समर्थन करता है; किंतु जहाँ ये राज्य के हित में बाधक बनते हैं, वहाँ वह उन्हें सीमित या उपेक्षित करने में संकोच नहीं करता। कौटिल्य ने राजा को धर्मप्रवर्तक, न्याय का केन्द्र और राज्य व्यवस्था का आधार माना है, परन्तु धर्म और धार्मिक संस्थाओं को राजसत्ता से ऊपर स्थान नहीं दिया। उसने विवादों के निबटारे, न्यायिक प्रक्रिया, प्रशासन, विदेश नीति और युद्ध में परिस्थितियों के अनुसार नैतिक या कठोर उपायों के प्रयोग की अनुमति दी है। इसी कारण उसके यहाँ धर्मयुद्ध में नैतिकता और कूटयुद्ध में कूटनीति को स्वीकार किया गया है।

समग्र रूप से कौटिल्य न तो पूर्ण नैतिकतावादी है और न ही पूर्ण अनैतिकतावादी। उसका प्रमुख लक्ष्य एक सुदृढ़ राज्य, समृद्ध राष्ट्र और सुव्यवस्थित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है। इसीलिए उसका चिन्तन विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद नहीं, बल्कि व्यावहारिक, यथार्थवादी और राज्यहित केन्द्रित दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *कौटिल्य, अर्थशास्त्र, सम्पादक—आर. श्यामशास्त्री, मैसूर प्रिन्टिंग प्रेस, मैसूर, 1915*
2. *कौटिल्य, अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद), वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1960*
3. *मनुस्मृति, अनुवाद—गंगानाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1920*
4. *नारदस्मृति, सम्पादक—पं. रामतेज शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1968*
5. *महाभारत (शान्ति पर्व), गीता प्रेस, गोरखपुर, 1956*
6. *भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1974*
7. *तुलसीदास, रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1962*
8. *रोमिला थापर, प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984*
9. *आर.सी. मजूमदार, प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1951*
10. *ए.एस. अल्तेकर, प्राचीन भारत में राज्य और शासन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1958*
11. *के.पी. जयसवाल, हिन्दू राजव्यवस्था, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1924*
12. *बी.पी. वर्मा, हिन्दू राजनीतिक विचार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961*
13. *यू.एन. घोषाल, प्राचीन भारत के राजनीतिक विचार (हिन्दी अनुवाद), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1971*
14. *पो. कृष्णराव, कौटिल्य का राजनीतिक दर्शन, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1975*
15. *महात्मा गाँधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1938*
16. *महात्मा गाँधी, सत्य के प्रयोग, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 1940*

17. *Kautilya, The Arthashastra, trans. R.P. Kangle, Vol. II-III, Motilal Banarsidass, Delhi, 1972*

18. *U.N. Ghoshal, A History of Indian Political Ideas, Oxford University Press, London, 1966*

19. *R.C. Majumdar, Ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi, 1997*

20 *P.V. Kane, History of Dharmasastra, Vol. III, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1946*

21| *Beni Prasad, The State in Ancient India, Oxford University Press, Oxford, 1928*

22. *D.D. Kosambi, Ancient India : A History of its Culture and Civilization, Vikas Publishing House, Delhi, 1965*

23. *George H. Sabine, A History of Political Theory, Oxford University Press, London, 1937*

24. *Plato, The Republic, trans. Benjamin Jowett, Oxford University Press, Oxford, 1892*

25. *Aristotle, Politics, Oxford University Press, Oxford, 1905*

26. *Niccolò Machiavelli, The Prince, Penguin Classics, London, 1961*

27. *John Strachey, The Theory and Practice of Socialism, Gollancz, London, 1936*

28 *Aldous Huxley, Ends and Means, Chatto & Windus, London, 1937*